# श्रमण ज्ञान-मीमांसा

—प्रोफेसर भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

श्रमण संस्कृति में सम्यक् ज्ञान का उतना ही महत्त्व है जितना सम्यक् चारित्र का। ये सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र सम्यग्दर्शन पर प्रतिष्ठित रहते हैं इसलिए निर्वाण की साधना इन तीनों महास्तम्भों पर अवलम्बित है। महावीर और बुद्ध दोनों महापुरुषों ने रत्नत्रय और आष्टाङ्गिक मार्ग को इसी उद्देश्य से प्रस्तुत किया था ताकि जीवन में साध्य और साधन अधिकाधिक विशुद्ध रह सकें। इसलिए उन्होंने परीक्षावादी होने के लिए आग्रह किया है।

आत्मा अथवा चित्त का गुण 'विजानन' माना गया है, जहाँ विजानन होता है वहाँ दर्शन भी होता है। अतः ज्ञान और दर्शन आत्मा का गुण है। पर पदार्थों का ज्ञान होने पर साकार होने के कारण उसे ज्ञान कहते हैं और जब वह मात्र चैतन्य रूप रहता है तब उसे दर्शन कहते है। यह दर्शन निराकार और चैतन्याकार रहता है। एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के उपयोग में प्रवृत्त होने के बीच की निराकार अवस्था दर्शन है। बौद्धदर्शन में इसे निर्विकल्पक कहा गया है। जैन दर्शन इसे प्रमाण कोटि से बाहर मानता है। दर्शनोपयोग निराकार और निर्विकल्प होता है जबकि ज्ञानोपयोग साकार और सविकल्पक होता है। दर्शन में सत्ता की मात्र प्रतीति होती है और उसका निर्णय ज्ञान करता है।[1]

**ज्ञान अथवा प्रमाण**

ज्ञान प्रमा का साक्षात् साधकतम होता है। जैन-बौद्ध दर्शन में इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि को प्रमाण नहीं माना गया क्योंकि वे स्वयं अचेतन हैं। प्रमाण लक्षण की तार्किक परंपरा का प्रारंभ कणाद से होकर अक्षपाद, वात्स्यायन, वाचस्पतिमिश्र और उदयनाचार्य तक पहुँचा। न्याय-वैशेषिक परंपरा में कारण-शुद्धि पर विचार करते हुए विषय बोधक अर्थ पद का सन्निवेश किया गया पर स्वप्रकाशकत्व और अपूर्वता का सन्निवेश नहीं हो सका। मीमांसक परंपरा ने अदुष्टकारणारब्ध, निर्बाधत्व तथा अपूर्वार्थत्व विशेषणों से एक ओर न्याय-वैशेषिक परंपरा में कथित कारण दोष को दूर कर दिया वहीं दूसरी ओर बौद्ध परंपरा को भी अंगीकार कर लिया। अभी तक न्याय-वैशेषिक और मीमांसक परंपरा में स्वप्रकाशकत्व को कोई स्थान नहीं था। बौद्ध नैयायिकों ने इस कमी की पूर्ति की। दिङ्नाग ने प्रमाण के लक्षण में "स्वसंवित्ति" शब्द देकर इसका सूत्रपात किया। विज्ञानवाद की स्थापना का यह फल था। धर्मकीर्ति ने 'अविसंवादित्व' विशेषण से वात्स्यायन और कुमारिल की बात कह दी तथा शांतरक्षित ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति को एकत्रित करके परिभाषा बना दी।

जैन परंपरा में समन्तभद्र और सिद्धसेन ने स्वपरावभासक पद से प्रमाण के लक्षण की कमी की पूर्ति कर दी, यद्यपि बौद्ध नैयायिकों ने इसका पहले ही आभास करा दिया था। अकलंक ने धर्म-

---

१. सन्मतिप्रकरण, २-१; न्यायविनिश्चय, १-३; सर्वार्थसिद्धि, २-९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कीर्ति का अनुकरण कर प्रमाण के लक्षण में 'अविसंवादिज्ञानम्' पद नियोजित किया। उनकी दृष्टि यह थी कि अविसंवादत्व प्रमाण की शर्त होना चाहिए। जैसे इत्रादि में रूप, रस, गंध आदि के होने पर भी गन्ध के आधिक्य के कारण उसे गन्धवान् कहा जाता है। इन्द्रिय द्वारा ज्ञात विषय इतना प्रामाणिक नहीं हो सकता। इसलिए उनको परोक्ष के अन्तर्गत रखा है। अविसंवादी ज्ञान वही कहलाता है जिसमें बाह्य पदार्थ की यथावत् प्रतीति अथवा प्राप्ति हो।

अकलंक के पूर्व बौद्ध परम्परा की सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी शाखाओं ने ज्ञान का धर्म "स्वसंवेदित्व" स्वीकार कर लिया था। इसलिए दिङ्नाग ने "स्वसंविदित्ति" को ही प्रमाण का फल बताया है।

उत्तरकालीन आचार्यों में विद्यानन्द, हेमचन्द्र, माणिक्यनंदि आदि प्रायः सभी आचार्यों ने अकलंक की परंपरा को सुरक्षित रखा। प्रभाचंद ने धारावाहिक ज्ञान को अप्रामाणिक बताने के लिए 'अपूर्व' शब्द का संयोजन किया।

प्रमाण के लक्षण में जैनाचार्य बौद्धाचार्यों से उपकृत हुए हैं। अगृहीतग्राहि—'अपूर्वार्थक विशेषण भी बौद्धों की ही देन है। विद्यानन्द ने 'अविसंवाद' के खण्डन करने का प्रयत्न अवश्य किया पर उन्होंने जहाँ कहीं उसे स्वीकार भी किया। वस्तुतः स्वार्थव्यवसाय और अविसंवादि शब्दों में कोई विशेष अन्तर नहीं था। प्रमाण को स्वपरावभासक होना आवश्यक है। जैन-बौद्ध, दोनों ज्ञान को प्रमाण मानते हैं पर बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं और यही दोनों के बीच विवाद का विषय रहा है। सविकल्पक को यदि अप्रमाण माना जाय तो अनधिगत अर्थ का ग्राहक न होने से तो अकलंक की दृष्टि में अनुमान भी प्रमाण कोटि से बाहर हो जायगा। बौद्धों ने इसके उत्तर में कहा कि इस स्थिति में तो पूर्व निश्चित अर्थ की स्मृति भी प्रमाण के क्षेत्र में आ जायगी। अकलंक ने इसका उत्तर देते हुए यह स्पष्ट किया कि यदि स्मृति भी विशिष्ट ज्ञान कराती है तो वह भी प्रमाण है। इतने विवाद के वावजूद दोनों दार्शनिक स्वप्रत्यक्षवादी हैं और आत्मा-ज्ञान में अभेदवादी हैं।

जैन दर्शन कारक व्यवहार को कल्पित मानते हैं। वह प्रमाण कोटि से बाहर है। एक ही वस्तु को हम विवक्षा के भेद से कर्ता-कर्म-करण आदि निश्चित करते हैं। इस विवक्षा में जैन दार्शनिक अनेकान्तात्मकता को आधार मानकर तत् तत् व्यवहार को कारण मानते हैं जबकि बौद्ध दार्शनिक विवक्षा के मूल में वासना को स्वीकार करते हैं।[1]

ज्ञान और सुख में क्या भेद है यह भी विवाद का विषय रहा है। धर्मकीर्ति के अनुसार ज्ञान और सुख में कोई भेद नहीं क्योंकि विज्ञान और सुख की उत्पत्ति के कारण समान हैं। जैन दार्शनिक इस तथ्य को द्रव्यार्थिक दृष्टि से तो स्वीकार कर लेते हैं पर पर्यायदृष्टि से वे यह कहते हैं कि ज्ञान और सुख एक ही आत्मा की भिन्न-भिन्न पर्याय हैं। अतः उन्हें एकान्तिक रूप से भिन्न या अभिन्न नहीं कह सकते। वे कथञ्चित् भिन्न हैं और कथञ्चित् अभिन्न हैं। जैन-बौद्ध, दोनों दर्शन सुखादि को चैतन्यरूप और स्वसंविदित मानते हैं इसमें कोई विवाद नहीं।[2]

जैन-बौद्ध दोनों ने सन्निकर्ष को प्रमाण नहीं माना।[3] सन्निकर्ष के प्रकारों में समवाय विशेष

१. प्रमाणवार्तिक, २,३१९; न्यायावतारवार्तिकवृत्ति, पृ० १७।

२. न्यायावतार वार्तिकवृत्ति, पृ० २०; प्रमाणवार्तिक २.२६८।

३. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० २९; प्रमाणवार्तिक, २.३१६, विशेष देखिये लेखक की पुस्तक "जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ० १९०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवाद का कारण रहा है। धर्मकीर्ति आदि बौद्धाचार्यों ने समवाय को निम्न कारणों से अस्वीकार किया है—

१. वह अतीन्द्रिय है, प्रत्यक्षग्राह्य नहीं। अवयव विषयक प्रतीति वासना वश होती है, वस्तुकृत नहीं।
२. प्रतीति के मूल में आधाराधेयभाव या तन्मूलक समवाय न होकर कार्यकारण-भाव है।
३. द्रव्य और गुण का भी भेद नहीं है। इसलिए 'घटे रूपम्' इस प्रतीति के बल पर भी समवाय सिद्ध नहीं होता। समवाय के अभाव में भी यह प्रतीति बनी रहती है।
४. समवाय यदि स्वतन्त्र पदार्थ है तो उसका सम्बन्ध दूसरे द्रव्य से कैसे हो पायेगा ? एक और समवाय मानने पर अनवस्था दोष होगा।
५. मीमांसकों का रूपरूपित्व भी लगभग ऐसा ही है।
६. सांख्यों ने भी समवाय का खण्डन किया है।

जैन दार्शनिक भेदाभेदवादी हैं। वे नैयायिकों के समवाय के खण्डन में बौद्धाचार्यों का ही अनुकरण करते हैं। उनके मत से समवाय द्रव्य का एक पर्याय मात्र है।[1]

जैन-बौद्धों ने सन्निकर्ष को समान आधार पर प्रमाण नहीं माना। बौद्धों ने तो श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी माना है। कुमारिल ने इन्द्रियों के व्यापार को सन्निकर्ष कहकर सन्निकर्ष का अर्थ ही बदल दिया। यहाँ संप्रयोग का अर्थ है—ऋजु देश स्थिति और इन्द्रिय की योग्यता। जैनों ने इसी को स्वीकार किया है पर योग्यता का अर्थ दूसरा कर दिया। उनके अनुसार योग्यता का अर्थ है—ज्ञानावरण के दूर होने से उत्पन्न शक्ति विशेष। यही ज्ञान का कारण है।[2]

प्रमाण के संदर्भ में बौद्धदर्शन द्वारा मान्य निर्विकल्पक ज्ञान की भी चर्चा करना आवश्यक है। वस्तु का स्वलक्षण और सामान्य लक्षण के अनुसार प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। कल्पना से रहित निर्भ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और अभिलाप अर्थात् शब्द विशिष्ट प्रतीति को कल्पना कहते हैं। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है और वह क्षणिक है इसलिए प्रत्यक्ष में शब्दसंसृष्ट अर्थ का ग्रहण संभव नहीं है। नाम देते-देते वह विलीन हो जाता है। तब हम उसे सविकल्पक कैसे कह सकते हैं ? और फिर अर्थ में शब्दों का रहना संभव नहीं है और न अर्थ और शब्द का तादात्म्य संबन्ध ही है। ऐसी दशा में अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में ज्ञान को उत्पन्न न करने वाले शब्द के आकार का संसर्ग कैसे रह सकता है ? क्योंकि जो जिसका जनक नहीं होता, वह उसके आकार को धारण नहीं करता। जैसे रस से उत्पन्न होने वाला रसज्ञान अपने अजनक रूप आदि के आकार को धारण नहीं करता और इन्द्रिय ज्ञान केवल नील आदि अर्थ से ही उत्पन्न होता है, शब्द से उत्पन्न नहीं होता। तब वह शब्द के आकार को धारण नहीं कर सकता और जब शब्द के आकार को वह धारण नहीं कर सकता, तब वह शब्दग्राही कैसे हो सकता है क्योंकि बौद्धमत के अनुसार जो ज्ञान जिसके आकार नहीं होता वह उसका ग्राहक नहीं होता (अतः जो ज्ञान अर्थ से संसृष्ट शब्द को

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २०।
२ न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ३१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाचक रूप से ग्रहण करता है, वही सविकल्पक है, अन्य नहीं। यह बात प्रत्यक्ष ज्ञान में संभव नहीं है। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।[1]

जैन दार्शनिक इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मत में निश्चयात्मक सविकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञानद्वैतवादी, संवेदनाद्वैतवादी बौद्धों का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा कि निर्विकल्पक ज्ञान निराकार होने से लोक-व्यवहार चलाने में असमर्थ होते हैं और उससे पदार्थ का निश्चय भी नहीं होता। जो स्वयं निश्चयात्मक नहीं है वह निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न कैसे कर सकता है।[2] अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं।

**मिथ्याज्ञान** को प्रमाण कोटि के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में से विपर्यय ज्ञान के विषय में मतभेद अधिक है। शुक्तिका होते हुए भी उसमें रजतज्ञान कैसे हो जाता है? यह प्रश्न दार्शनिकों के समक्ष रहा है। बाह्यार्थवादी और अद्वैतवादी दार्शनिकों ने इस प्रश्न का समाधान अपने-अपने ढंग से किया है।

सौत्रान्तिक और माध्यमिक दार्शनिकों ने विपर्ययज्ञान को 'असत्ख्यातिवाद' माना है। उनके अनुसार सीप में "यह चाँदी है" यह प्रतिभास न ज्ञान का धर्म है और न अर्थ का। सुषुप्ति अवस्था में होने वाले प्रतिभास के समान यह प्रतिभास असत् का ही प्रतिभास है। वस्तु का स्वभाव ही निःस्वभाव है।[3]

परन्तु जैनाचार्य इसे नहीं मानते। उनका कहना है कि आकाशकुसुम की तरह असत् का प्रतिभास होना ही संभव नहीं है। ज्ञान और अर्थ में वैचित्र्य माने बिना भ्रान्ति का जन्म हो नहीं सकता अतः असत्ख्यातिवाद ठीक नहीं।

योगाचारवादियों ने इस विपर्ययज्ञान को आत्मख्यातिवाद कहा है। उनके अनुसार भ्रम दो प्रकार के हैं—मुख्य भ्रम और प्रातिभासिक भ्रम। सभी ज्ञान भ्रान्त होते हैं पर हम उन्हें अभ्रान्त मानकर चलते हैं। सीप में 'यह चाँदी है' यह ज्ञान का ही आकार है जो अनादिकालीन अविद्या वासना के बल से बाहर में प्रतिभासित होता है। इसलिए इसे आत्मख्याति कहा जाता है। सविकल्पक ज्ञान वस्तुतः इन्द्रियजन्य नहीं बल्कि मनोजन्य है।

जैनाचार्य इसे स्वीकार नहीं करते। यदि अनादि अविद्या वासना के कारण स्वात्मनिष्ठ ज्ञानाकार का प्रतिभास बहिःस्थित रूप से हुआ मानते हैं तब तो यह विपरीत ख्याति ही हुई, क्योंकि ज्ञान से अभिन्न चाँदी वगैरह के आकार का विपरीत रूप से अर्थात् बहिःस्थित रूप से अध्यवसाय होता है।

जैन दर्शन नैयायिकों के समान विपदीख्यातिवादी है। उसके अनुसार इन्द्रियादि दोष के कारण शुक्तिका में रजत का प्रत्यय होता है। बाह्यार्थ रजत नहीं, शुक्तिका है। अतएव यह प्रत्यय विपर्यय है।[4]

इस प्रकार जैन दार्शनिक ज्ञान को स्वसंवेदी मानते हैं। उनके अनुसार पदार्थज्ञान के लिए

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ४६; न्यायविनिश्चय, पृ० ११; तत्त्वसंग्रह, पृ० ३९०; जैन न्याय, पृ० ६४-६५।
२. राजवार्तिक, १.१२।
३. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ४९; न्यायकुमुदचंद्र, पृ० ६०।
४. राजवार्तिक, १.१२।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य ज्ञान के सहायता की अवश्यकता नहीं। ज्ञान 'स्व' को जानता है इसलिए 'अर्थ' को जानता है। 'स्व' को न जानने वाला 'अर्थ' को नहीं जान सकता। स्वसंवेदन को ही प्रत्यक्ष कहा जाता है।

अब हम पञ्चज्ञानों की तुलना पर पहुँचते हैं।

## ज्ञान के भेद

### मतिज्ञान और चित्तवीथि

पदार्थज्ञान-प्रक्रिया के क्षेत्र में जैन दर्शन का मतिज्ञान और बौद्धदर्शन की चित्तवीथि दोनों का समान महत्त्व है। दोनों दर्शनों में सामान्य व्यक्ति के ज्ञान में पदार्थ का निश्चयीकरण किस प्रकार होता है और उसे कितनी अवस्थायें पार करनी पड़ती हैं, इसका समुचित ज्ञान मतिज्ञान और चित्तवीथि के माध्यम से ही हो पाता है। इन दोनों की तुलना यहाँ द्रष्टव्य है।

### मतिज्ञान

जैनदर्शन के अनुसार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्येक जीव में होते हैं। मतिज्ञान 'पर' की सहायता से उत्पन्न होता है और इस पर में जड़ रूप द्रव्य, इन्द्रियाँ, मन, आलोक, उपदेश आदि बाह्य निमित्त प्रमुख हैं।[1] इस ज्ञान को परोक्ष कहा गया है। अकलंक ने इसी को एकदेश एकदेशतः स्पष्ट होने के कारण सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा है।[2]

सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। सत्ता का प्रतिभास होने पर मनुष्यत्व आदि रूप से अर्थग्रहण 'अवग्रह' है। चक्षु आदि इन्द्रियों और घटादि पदार्थों का जब प्रथम सम्पर्क होता है तब उसे 'दर्शन' कहते हैं। इस प्रकार का दर्शन वस्तु के सामान्य स्वरूप को ग्रहण करता है। बाद में वस्तु के आकार आदि का निर्णय होने पर उसी ज्ञान को अवग्रह कहा गया है। अवग्रह के दो भेद हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। वस्तु का अस्पष्ट ग्रहण व्यंजनावग्रह है और स्पष्ट ग्रहण अर्थावग्रह है। व्यंजनावग्रह स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इंद्रियों से होता है। वे इन्द्रियाँ विषय से सम्बद्ध होकर ही उसे जानती हैं। अर्थावग्रह वैसे पांचों इन्द्रियों और मन से होता है पर विशेषतः चक्षु और मन अप्राप्त अर्थ को ग्रहण करते हैं। वीरसेन ने दो अन्य नाम सुझाये हैं—विशदावग्रह और अविशदावग्रह। विशदावग्रह निर्णयात्मक होता है और वह ईहादि ज्ञान की उत्पत्ति में कारण बनता है। अविशदावग्रह में भाषादि विशेषों का ग्रहण नहीं हो पाता, पुरुष मात्र का ग्रहण होता है।[3] यहाँ अकलंक आदि आचार्यों ने अवग्रह को निर्णयात्मक ही माना है। दर्शन और अवग्रह के स्वरूप के विषय में भी इसी प्रकार आचार्यों की मान्यताओं में मतभेद है जिन्हें हम यहाँ चर्चा का विषय नहीं बना रहे हैं।

'यह मनुष्य है' ऐसा जानने के बाद उसकी भाषादि विशेषताओं के कारण यह संदेह होता है 'यह पुरुष दक्षिणी है या पश्चिमी', इस प्रकार के संशय को दूर करते हुए 'ईहा' ज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसमें निर्णय की ओर झुकाव होता है। यह ज्ञान जितने विशेष को जानता है, उतना वह निश्चयात्मक है। अतः इसे संशयात्मक नहीं कह सकते। 'यह मनुष्य दक्षिणी होना चाहिए' इस

१. सर्वार्थसिद्धि, १.११।

२. लघीयस्त्रय कारिका, ३।

३. धवला, ९, पृ० १४४-१४५।

Jain Education International  For Private & Personal Use Only  www.jainelibrary.org

प्रकार सद्भूत पदार्थ की ओर झुकता हुआ ज्ञान 'ईहा' है। 'ईहा' ज्ञान के बाद आत्मा में ग्रहण-शक्ति का इतना विकास हो जाता है कि वह भाषा आदि विशेषताओं द्वारा यह यथार्थ ज्ञान कर लेता है कि 'यह मनुष्य दक्षिणी ही है'। इसी ज्ञान को 'अवाय' या 'अपाय' कहा जाता है। इसके बाद अवाय द्वारा गृहीत पदार्थ को संस्कार के रूप में धारण कर लेना ताकि कालान्तर में उसकी स्मृति हो सके, धारणा है। पदार्थ ज्ञान का यही क्रम है। ज्ञात वस्तु के ज्ञान में यह क्रम बड़ी द्रुत गति से चलता है।

**चित्तवीथि**

चित्त परम्परा को चित्तवीथि कहते हैं।[1] चित्त को विभिन्न स्थितियों से परिचित होने का यह सुन्दर साधन है। बौद्ध दर्शन में पदार्थों को छः भागों में विभाजित किया गया है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श (काय) और मन। इस प्रकार यहाँ पदार्थ-ज्ञान की प्रक्रिया छः प्रकार से मानी जाती है—चक्षुद्वारवीथि, श्रोत्रद्वारवीथि, घ्राणद्वारवीथि, जिह्वाद्वारवीथि, कायद्वारवीथि एवं मनोद्वारवीथि। प्रथम पाँच वीथियाँ बाह्यालम्बन को लेकर प्रवृत्त होती हैं। ये बाह्यालम्बन चार प्रकार के हैं—अतिमहद्, महद्, परीत्त (अल्पसूक्ष्म) और अतिपरीत्त। आलम्बन के अभिनिपात से लेकर उसके निरोध तक होने वाले चित्तक्षणों की गणना के आधार पर ये नाम दिये गये हैं।[2]

इन वीथियों को अभिधर्म में दो भागों में विभाजित किया गया है—पंचद्वारवीथि और मनोद्वारवीथि। दोनों का पदार्थज्ञान प्रक्रिया में उपयोग होता है। पंचद्वारवीथि में पाँच इन्द्रियों से यह क्रिया होती है। यह कोई परिचित मनुष्य है और अमुक नाम का है; ऐसा ज्ञान होने के पूर्व निम्नलिखित मानसिक और इन्द्रियगत क्रियायें होती हैं—

१. **भवंग**— चक्षु इन्द्रिय के क्षेत्र में रूपालम्बन के आने के एक क्षण पूर्व की मानसिक दशा। इसमें मन प्रवाह रहित होता है। इसे अतीत अभंग भी कहते हैं।

२. **भवंग चलन**—इन्द्रिय पथ में विषय के आते ही मन प्रकम्पित हो उठता है।

३. **भवंग विच्छेद**–मन का पूर्व प्रवाह समाप्त हो जाता है, उपस्थिति आलम्बन के कारण।

४. **पंच द्वारावज्जन**–इसके बाद चित्त प्रवाह आलम्बन की ओर अभिमुख होता है और पाँचों इन्द्रियां उसे ग्रहण करने के लिए सजग हो उठती हैं।

५. **चक्खुविञ्ञाण**–चक्षु के क्षेत्र में रूपालम्बन के आने पर चक्षु इन्द्रिय अपना कार्य करने लगती है। इस कार्य में चक्षु द्वारा रूप का स्पर्शात्मक दर्शन मात्र चक्षु विज्ञान कहलाता है।

६. **सम्परिच्छन्न**–चक्षु विज्ञान के बाद मन उस विषय को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है। इस स्थिति में 'यह कुछ है' इतना मात्र वह जान पाता है।

७. **सन्तीरण**— पूर्व दृष्ट विषय के वर्ण, आकार, प्रकार आदि के विषय में सम्यक् विचार करना।

८. **वोट्ठपन**— इस अवस्था में मन उस पदार्थ का निर्धारण कर लेता है। मन की यह विनिश्चयात्मक प्रवृत्ति है।

---

१, अ. सं. प. दी, पृ० १२१।

२. अ. सं. विभा. पृ. १०५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. **जवन**— शीघ्रता के साथ गमन को जवन कहते हैं। इस अवस्था में मन का ज्ञात आलम्बन के साथ ग्रहण-त्याग के रूप में सीधा परिभोगात्मक संबंध हो जाता है।

१०. **तदारमण**— इस अवस्था में मन आलम्बन के विषय में अपनी अनुभूतियाँ अंकित करता है। इसके बाद भवंगपात हो जाता है अर्थात् तद्विषयगत वीथि का अवरोध हो जाता है।

इन दश अवस्थाओं के व्यतीत होने के बाद ही इन्द्रिय और मन आलम्बन को जान पाते हैं। मनोद्वारवीथि में दो प्रकार के आलम्बन होते हैं—विभूत (स्पष्ट) और अविभूत (अस्पष्ट) चित्त की शक्ति की अपेक्षा से आलम्बन के इन दो भेदों का अभिधान हुआ है। चित्त यदि निर्मल होता है, समाधि की प्रबलता से तो आलम्बन उसमें विभूत रूप से प्रतिबिम्बित हो उठता है और यदि चित्त समाधि की दुर्बलता से निर्मल नहीं हुआ तो आलम्बन उसमें अस्पष्ट बना रहता है।

आलम्बन और विषय प्रवृत्ति समानार्थक हैं। इन्द्रियाँ और रूप के साथ ही आलोक और मनसिद्वार, इन चार प्रकार के प्रत्ययों के होने पर ही चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसी संदर्भ में प्रत्येक चित्त की उत्पाद, स्थिति और भंग ये तीन अवस्थायें बतायी गई हैं। इन तीनों अवस्थाओं के सम्मिलित रूप को क्षुद्र-क्षण या एकचित्त क्षण कहते हैं। इस एकचित्त क्षण में उत्पाद-स्थिति भंग इतनी शीघ्रता से प्रवृत्त होते हैं कि एक अच्छरा ( चुटकी बजाने या पलक झपने जितना काल ) में ये लाखों-करोड़ों बार उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार के १७ चित्तक्षणों का काल रूप-धर्म की आयु है। अर्थात् नामधर्म और रूपधर्म समान रूप से अनित्य और संस्कृत होने पर भी नाम-धर्मों की आयु अल्प और रूपधर्मों की आयु दीर्घ होती है। इस अन्तर का कारण यह है कि नाम-रूप धर्मों में महाभूत प्रधान होते हैं जो स्वभावतः गुरु हैं।

सम्बद्ध द्वार में होने वाले घट्टन को ही 'अभिनिपात' कहा जाता है। रूपालम्बन का चक्षु-प्रसाद से संघट्टन होने पर 'मनोद्वार' नामक भवंगचित्त ( हृदय ) में उस आलम्बन का प्रादुर्भाव हो जाता है। चित्त का प्रादुर्भाव भी वस्तु, आलम्बन एवं मनसिकार आदि संबद्ध कारणों के संनिपात होने पर स्वतः हो जाता है। बौद्धधर्म में चित्त के साथ ही 'मनोविज्ञान धातु' का भी आख्यान हुआ है जिसे अन्य चित्तों की अपेक्षा विशेष रूप से जानने वाली धातु माना गया है।

इस प्रकार चक्षुगत विषय विजानन प्रक्रिया में चक्षुर्वस्तु, हृदयवस्तु, चक्षुर्द्वार, रूपालम्बन, चक्षुर्विज्ञान तथा चक्षुर्द्वार के साथ अतिमहद् आदि चतुर्विध विषय-प्रवृत्ति काम करती है। श्रोत्र-द्वारवीथि आदि में भी इसी प्रकार का क्रम होता है।

## तुलना

उपर्युक्त दश अवस्थाओं में भवंग से भवंगविच्छेद तक की क्रियायें वीथि के पूर्वकृत्य हैं। अतः उन्हें चित्त नहीं कहा गया। चित्त की क्रिया पंचद्वारावज्जन से प्रारम्भ होती है और संपटिच्छन्न अवस्था तक मात्र यही जाना जाता है कि 'उपस्थित विषय कुछ है'। जैनदर्शन में इसी को अवग्रह कहा जाता है। इसी प्रकार चक्षुर्विज्ञान व्यंजनावग्रह का नामान्तर है जिसमें दर्शन निर्विकल्पात्मक रहता है और संपटिच्छन्न को अर्थावग्रह कहा जा सकता है जिसमें वस्तु विशेष का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इसी रूप में सन्तीरण को ईहा का, वोट्ठपन को अवाय का और जवन तथा तदारम्भण को धारणा का नामान्तर माना जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१-३. भवंग से भवंग विच्छेद तक—वीथि के पूर्व कृत्य हैं अतः वे चित्त नहीं।

| | | |
|---|---|---|
| ४. पंचद्वारावज्जन | = दर्शन | |
| ५. चक्षुर्विज्ञान | = व्यंजनावग्रह | अवग्रह |
| ६. सम्पटिच्छन्न | = अर्थावग्रह | |
| ७. सन्तीरण | = | ईहा |
| ८. वट्ठपन | = | अवाय |
| ९. जवन | | धारणा |
| १०. तदारंभण | | |

जैनदर्शन प्रारम्भ से ही चक्षु और मन को अप्राप्यकारी मानता आ रहा है और शेष इन्द्रियों को प्राप्यकारी। परन्तु बौद्ध दर्शन इस विषय में एक मत नहीं। स्थविरवादी अभिधर्म दर्शन सभी इंद्रियों को प्राप्यकारी मानता-सा दिखाई देता है पर उत्तरवादी दर्शनों में इसके संबंध में मतभेद हो गया। सौत्रान्तिक और वैभाषिक जैनदर्शन के समान चक्षु को अप्राप्यकारी मानते हैं, विज्ञानवादी उसे चक्षुर्विज्ञान का कार्य स्वीकार करते हैं और शून्यवादी चक्षु, श्रोत्र और मन, सभी को अप्राप्यकारी बताकर उनका प्रतिषेध कर देते हैं।

विज्ञानवादी के अनुसार देखने का कार्य चक्षु नहीं, चक्षुर्विज्ञान करता है पर वैभाषिक उसे अप्राप्यकारी ही मानते हैं। सौत्रांतिक 'निर्व्यापार' की बात करते हैं।[1] शून्यवादी आर्यदेव चार महाभूतों और चार उपादान भूतों से उत्पन्न होने वाला घट-चक्षु द्वारा संपूर्णतः दिखाई नहीं देता। इतना ही नहीं, उन्होंने तो चक्षुरादिक इन्द्रियों की सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया, विज्ञान की असंभवनीयता बताते हुए और आगे चक्षु को अप्राप्यकारी सिद्ध करने में लगभग वही सब तर्क प्रस्तुत किये जो जैन दर्शन करता है।[2]

समूचा बौद्ध दर्शन श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी कहता है और उसके पीछे उसका तर्क यह है कि वह दूरवर्ती शब्द को सुन लेता है, परन्तु जैन-दर्शन एक मत से श्रोत्र को प्राप्यकारी कहता है। उसके अनुसार श्रोत्र दूर से शब्द नहीं सुनता, बल्कि वह तो नाक की तरह अपने देश में आये हुए शब्द पुद्गलों को सुनता है। शब्द वर्गणायें कान के भीतर ही पहुँचकर सुनाई देती हैं। यदि कान दूरवर्ती शब्द को सुनता तो उसे कान में प्रविष्ट मच्छर का भिनभिनाना नहीं सुनाई देना चाहिए क्योंकि कोई भी इन्द्रिय अतिनिकटवर्ती या दूरवर्ती दोनों प्रकार के पदार्थ को नहीं जान सकती।[3]

जैनदर्शन मन को भी अप्राप्यकारी मानता है। पर बौद्धदर्शन उसे स्वीकार नहीं करता। जैनदर्शन में मन को अनिन्द्रिय और अन्तःकरण भी कहा गया है। वह सूक्ष्म और इन्द्रियों के समान नियत देश में अवस्थित नहीं। वह तो आत्मप्रदेश के रूप में सर्वत्र शरीर में अवस्थित रहता है। हृदयस्थान में आठ पांखुड़ी के कमल के आकार वाला है। यह द्रव्य मन है। संकल्प-विकल्पात्मक रूप ज्ञान भाव मन है।

---

१. अभिधर्मकोष, गाथा ४२-४३

२. चतुःशतकम्, ३१३-३१४

३. तत्त्वार्थराजवार्तिक, १.१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्धधर्म में मन के लिए चित्त और विज्ञान जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। उसे बहुत कुछ आत्मा का स्थान दिया गया है। चिन्तन गुण से विशिष्ट जो भाग है वही चित्त है[1]। चित्त की विविध प्रवृत्तियों को चैतसिक कहा जाता है। वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान भी चैतसिक कहलाते हैं। इन चारों को 'नाम' की संज्ञा दी गई है। इसके अतिरिक्त एक 'रूप' नामक जड़ पदार्थ भी है। इन नाम और रूप के संयोग से सत्त्व की संरचना होती है।

जैनदर्शन में जिसे द्रव्यमन कहा है—बौद्धदर्शन में उसी को हृदयवस्तु कहा है। वस्तु का अर्थ आश्रय है। पञ्चद्वारावज्जन और सम्पटिच्छन्न नामक मनोधातुयें हृदय का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त होती हैं। मनोविज्ञानधातु का भी आश्रय हृदय वस्तु ही है। भेद यह है कि जैनदर्शन मन को पौद्गलिक मानता है पर बौद्धदर्शन उसे पौद्गलिक स्वीकार नहीं करता।

स्पर्शन इन्द्रिय सर्व शरीर व्यापी है। प्रसाद रूप गुणधर्म और सभी संसारी जीवों के होती है। स्पर्श उसका विषय है। बौद्धदर्शन में इन्द्रियों को चैतसिक के अन्तर्गत रखा गया है। चार महाभूतों के आश्रय से उनकी उत्पत्ति मानी गई है। जैनधर्म में नामकर्म उनकी उत्पत्ति में कारण बताया गया है।

जिह्वा को बौद्धदर्शन में सनिदर्शन एवं सप्रतिघ प्रसाद रूप कहा गया है। बुद्धघोष ने इसे कमलदल आकार के प्रदेश में स्थित बताया है[2] और मूलाचार में अर्धचन्द्राकार अथवा खुरपा के समान माना है।

घ्राण चातुर्महाभूतज, प्रसाद रूप, गुणमात्र, अनिदर्शन तथा सप्रतिघ है। बुद्धघोष ने इसे घ्राण विवर के भीतर बकरी के खुर की बनावट का माना है तथा शिवार्य ने अतिमुक्तक पुष्प जैसा कहा है।[4] इसी प्रकार बुद्धघोष ने क्रमशः चक्षु और श्रोत्र को ऊका के शिर बराबर तथा अंगुलि-वेष्टन की आकृतिवाला और शिवार्य ने मसूर और जौ की नली जैसा बताया है।

इस प्रकार मतिज्ञान और चित्तवीथि के बीच यह संभाव्य तुलना का एक चित्र हमने प्रस्तुत किया है। चित्तवीथि के जवननियमों की तुलना जैनधर्म के क्षिप्रग्राहित्व के साथ की जा सकती है। विषय-विजाजन प्रक्रिया में बौद्धधर्म छोटी-छोटी अवस्थाओं का चित्रण करता है पर जैनधर्म उनको चार अवस्थाओं में ही समाहित कर देता है। दोनों दर्शनों में इस प्रकार की तुलना के लिए अनेक विषय हैं जिन पर विचार किया जाना चाहिए। जैनधर्म के कर्मग्रन्थ बौद्धधर्म के अभिधर्म-पिटक से पूर्वतर हैं। अतः बहुत कुछ संभावना यही है कि जैनधर्म का प्रभाव बौद्धधर्म के अभिधर्म-पिटक पर रहा होगा।

## अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान

जैनधर्म के अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को अभिज्ञाओं में खोजा जा सकता है। समाधि-प्राबल्य के कारण शक्ति तीव्र हो जाने से विशेष रूप से जानने वाला रूपावचरपञ्चम ध्यानगत ज्ञान

१. चेतना हं भिक्खवे कम्मं वदामि, अं. नि. ३, पृ. ४१५
२. विसुद्धिमग्ग, पृ. ३११
३. विसुद्धिमग्ग, पृ० ३११.
४. वही, पृ० ३११ : मूलाचार, १०९१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही 'अभिज्ञा' है। इस अवस्था में पारमिताओं की प्राप्ति कर ली जाती है। इससे निम्न प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होते हैं—

१. **इद्धिविध**—अनेक प्रकार की ऋद्धियों से सम्पन्न ज्ञान। बौद्ध साहित्य में विशेषतः १० प्रकार की ऋद्धियों का उल्लेख मिलता है। १. अधिष्ठान ऋद्धि ( एक होकर भी अनेक होना)

२. **विकुर्वाण ऋद्धि**—(नाना रूपों को धारण करना)

३. **मनोमय ऋद्धि**—(काय के भीतर उसी तरह का दूसरा रूप धारण करना) आदि

४: **दिव्य श्रोत्र**—(देव भूमि में होने वाले श्रोत्र को सुनना)

५. **परचित्त विज्ञान**—(दूसरे के चित्तों को जानना)

६. **पुब्बेनिवासानुस्मृति** (पूर्व भवों का ज्ञान होना )

७. **दिव्य चक्षु**—(च्युति-उत्पाद-ज्ञान)

८. **आश्रवक्षयज्ञान** - अर्हत् मार्गज्ञान,

इनमें विकुर्वाण ऋद्धि और मनोमय ऋद्धि क्रमशः वैक्रियक और आहारक शरीर जैसे हैं। परचित्तविज्ञान मनःपर्याय ज्ञान से पुब्बेनिवासानुस्मृति से जातिस्मरण और दिव्यचक्षु से अवधि-ज्ञान की समानता देखी जा सकती है।

**केवलज्ञान और सर्वज्ञता**

आश्रवक्षयज्ञान केवलज्ञान से मिलता-जुलता ज्ञान है। कर्माश्रवों के क्षय हो जाने पर पूर्णज्ञान की प्राप्ति होती है। यह अभिज्ञा लोकोत्तर मानी गई है। प्रथम पाँच अभिज्ञायें लौकिक मानी जाती हैं। साधक परम विशुद्धि को प्राप्त करने के बाद ही इस अवस्था तक पहुँचता है। दिव्यचक्षु प्राप्त हो जाने पर यह अवस्था मिलती है।

सर्वज्ञता और केवलज्ञान में कोई अन्तर नहीं। पर यहाँ बुद्ध की सर्वज्ञता और अन्य की सर्वज्ञता के बीच अन्तर दिखाई देता है। बुद्धेतर साधकों के ज्ञान का आलम्बन एकदेश रहता है जबकि बुद्ध का ज्ञान सर्वविध आलम्बन लिये रहता है। इस ज्ञान को "सब्बञ्ञुतञाण" कहा गया है (यह ज्ञान बुद्ध के सिवा और किसी में नहीं रहता)।[1]

बौद्धधर्म में बुद्ध ने प्रारम्भ में स्वयं को सर्वज्ञ कहना-कहलाना उचित नहीं समझा पर वे अपने आपको 'त्रैविद्य' कहा करते थे (इसी का विकास उत्तर काल में धर्मज्ञ और तदनन्तर सर्वज्ञ की मान्यता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ) बौद्ध धर्म सर्वज्ञता के इस विकासात्मक इतिहास को मैं अन्यत्र प्रस्तुत कर चुका हूँ।[2]

बौद्धदर्शन का मन्तव्य है कि भगवान् बुद्ध का ज्ञान सर्वार्थविषयक नहीं अपितु हेयोपादेय तत्त्व विषयक है। संसारी के सर्वार्थविषयक ज्ञान न तो संभव है और न ही उसकी आवश्यकता है। अन्यथा उसके सर्वज्ञ होने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। निर्भयसार्थी को सर्वज्ञ होने का प्रयोजन

---

१. अभिधम्मत्थसंगह, ३.५८

२. Jainism is Buddhist Literature, P. 278-288.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या ? उन्हें तो हेयोपादेय ज्ञान होना चाहिए। कीटसंख्या परिज्ञान आदि की उपयोगिता मानी जाय तो अभ्यास से तथागत के अनुष्ठेय वस्तु का साक्षात्करण पर भी विचार किया जा सकता है।

तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसंख्या परिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥[1]

परन्तु जैन कहते हैं—तथागत के अनुष्ठेय वस्तु के साक्षात्करण में प्रत्यक्ष-अनुमान आदि प्रमाण व्यर्थ सिद्ध होते हैं। यदि इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाय तो अनुष्ठान व्यर्थ सिद्ध हो जाता है क्योंकि प्रमाण विषय का साक्षात्कार करना ही अनुष्ठान का प्रयोजन है और जब प्रत्यक्ष है ही तो साक्षात्करणत्व में अनुष्ठान का क्या प्रयोजन ? अनुमान इसलिए नहीं कि प्रतिबन्धग्रहण के बिना अनुष्ठान दर्शन संभव नहीं।[2]

चतुरार्यसत्य का ज्ञाता होने से बुद्ध भी 'अशेषवादी' कहे जा सकते हैं—

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥[3]

जैनाचार्य पुनः उत्तर देते हुए कहते हैं कि कीटसंख्यापरिज्ञान चतुसत्य के व्याकरण में उपयोगी है। यदि उसे न माना जाय तो चतुसत्य का उपदेश ही असंभव हो जायगा। कूप को देखे बिना कूप में जल नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है। यदि कीटसंख्यापरिज्ञान को उपयोगी नहीं मानते तो भिक्षुसंख्यापरिज्ञान की भी क्या आवश्यकता ?[4] कोटादि चेतनवर्ग का ज्ञान पुरुषार्थकर है। अन्यथा बुद्ध को जगत् हितैषी कैसे कहा जायगा।[5] पुरुषार्थकर यदि न माना जाय तो उपदेश व्यर्थ हो जायगा निरवशेष ज्ञान न होने से।

अनुमान के अभ्यास से तत्त्वदर्शन नहीं हो सकता अन्यथा रसादि के अभ्यास से अन्धा भी रूपदर्शन कर सकेगा और फिर अनुमान को ही मानते हैं तो कषादि में सर्वज्ञता क्यों नहीं मानी जा सकती।[6] इसलिए "प्रमाणं नापरः" कथन ठीक नहीं।

इस प्रकार धर्मज्ञ ही नहीं बल्कि सर्वज्ञ की सिद्धि अपरिहार्य है।

**शक्ति कल्पना**

वस्तु के सामर्थ्य को शक्ति कहा जाता है। यह सामर्थ्य क्या-कैसी है, यह मतभेद का विषय है। कार्यकारण की व्यवस्था में शक्ति की कल्पना निहित है। अद्वैतवादी कार्यकारण को सांवृतिक सत्य मानते हैं और बाह्यार्थवादी उसे पारमार्थिक सत्य कहते हैं। माध्यमिक संप्रदाय पदार्थों को निःस्वभाव मानता है इसलिए वहाँ कार्यकारणभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। कार्यकारणभाव की

१. प्रमाणवार्तिक, २.३।
२. न्यायविनिश्चयविवरण, भाग १, पृ० १०।
३. प्रमाणवार्तिक, १.३४।
४. न्यायविनिश्चयविवरण, भाग १, पृ० १८, कारिका ४८-५२।
५. प्रमाणसमुच्चय, १.१।
६. न्यायविनिश्चयविवरण, भाग १, कारिका ८८-९१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्ति अनादिकालीन अविद्या वासना से चला लिया जाता है। यही वासना संसार के वैचित्र्य का कारण है।

जैन दर्शन में मीमांसकों के समान द्रव्य में एक अतीन्द्रिय शक्ति का समर्थन किया गया है। इस शक्ति की तुलना हम अर्थ पर्याय से कर सकते हैं। अर्थपर्याय पदार्थ की वह सूक्ष्म पर्याय है जो हमारी इन्द्रियों का विषय नहीं हो पाता। व्यञ्जनपर्याय पदार्थ की स्थूल पर्याय है जिसे इन्द्रियां अपना विषय बना लेती हैं। अर्थपर्याय पदार्थ की अनन्त शक्ति का प्रतीक है। इसी के बल पर वह अनेक कार्य करने में समर्थ होता है।[1] व्यंजनपर्याय ही अर्थपर्याय नहीं हो सकते क्योंकि उनका स्वरूप तो प्रत्यक्ष है। परन्तु अर्थपर्याय का बोध तो किसी कार्य को देखकर ही अनुमान से होता है।[2]

## परमाणुवाद

परमाणुवाद पर सृष्टि-प्रक्रिया आधारित है। जैनधर्म का परमाणुवाद और अनिरुद्धाचार्य का रूपकलाप समानार्थक प्रतीत होता है। जैनदर्शन के अनुसार परमाणु अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र से नही छेदा-भेदा जा सकता है और न जल-अग्नि आदि द्वारा जलाया जा सकता है।[3] वह एक प्रदेशी है, शून्य नहीं। परमाणु दो प्रकार का है—कारणरूप और कार्यरूप। शरीर, इन्द्रिय, महाभूत आदि स्कन्ध रूप कार्यों से परमाणु का अस्तित्व सिद्ध होता है। उसके अभाव में स्कन्ध रूप कार्य हो ही नहीं सकता।[4] वस्तुतः परमाणु स्कन्ध ही पुद्गल है। स्कन्धों की उत्पत्ति, भेद, संघात तथा भेद-संघात से होती है।

बौद्ध दर्शन में परमाणुवाद की कल्पना अभिधम्मत्थसंगहो में अधिक स्पष्ट हो सकी। वहाँ अवयव धर्मों के समूह को रूपकलाप कहा गया है। रूपों की उत्पत्ति अन्योन्य सापेक्ष होती है। यही स्कन्ध है। एक कलाप में कम से कम आठ या इससे भी अधिक रूप होते हैं तथापि एक रूप कलाप में उत्पाद, स्थिति और भंग एक ही होता है।

सर्वास्तिवादियों का संघात, अनिरुद्ध का कलाप तथा जैनाचार्यों का स्कन्ध-संघात समानार्थक है। सर्वास्तिवादियों ने परमाणु के १४ प्रकार बताये हैं—पाँच विज्ञानेन्द्रिय, पाँच विषय तथा चार महाभूत। वसुबंधु की परमाणु की व्याख्या जैनधर्म के परमाणु से अधिक समीप है। उनका उत्पाद चार महाभूत और रूप, रस गंध और स्पृष्टव्य इन आठ द्रव्यों के साथ होता है। वह अविभागी तथा अस्पर्शी है। आर्यदेव ने भी परमाणु का लक्षण हेतुत्व, परिमाण्डल्य और अप्रदेशत्व माना है। उसे अनित्य भी कहा है।[5] यह इस सिद्धान्त के विकास का परिणाम है। आर्यदेव के पूर्व नागार्जुन ने उसकी सत्ता को अस्वीकृत किया था। इतना ही नहीं, उसके उपादानोपादेयभाव का भी निराकरण

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ५१०।
२. स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ३०५-६, अष्टसहस्री, १८३।
३. तिलोयपण्णत्ती, १.९६।
४. राजवार्तिक, ५.२५.१४.१५।
५. चतुःशतकम्, २१३-२१९।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया।[1] दिङ्नाग, आर्यदेव, धर्मकीर्ति आदि सभी बौद्धाचार्यों ने परमाणुवाद के विरोध में समान तर्क प्रस्तुत किये हैं।

दृश्य स्थूल अवयवी का निषेध करके उसकी सत्ता-प्रतीति में अविद्या-वासना को मूल कारण माना। परमाणुवादी सौत्रान्तिक वैभाषिकों ने स्थूल पदार्थ को परमाणुपुञ्ज मात्र माना। इस संदर्भ में बौद्धों में तीन मत उपलब्ध हैं। १. प्राचीन बौद्धों के अनुसार परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है और शेष दोनों इस प्रकार के संयोग को स्वीकार नहीं करते।[2]

जैनधर्म परमाणु के विषय में भेदाभेदवादी है। अन्तर यह है कि बौद्धधर्म परमाणुपुञ्ज से अतिरिक्त स्कन्ध की स्वतंत्र सत्ता को नहीं मानते जबकि जैनों के मत में पुद्गल द्रव्य अणु-स्कन्ध रूप है। अवयव-अवयवी में कथंचित् तादात्म्य है।

सौत्रांतिक बौद्धधर्म में वस्तु को क्षणिक मानकर क्षणभंगुरवाद की स्थापना की गई है। जैनधर्म भी क्षणभंगुरवाद को स्वीकार करता है पर वस्तु का वह निरन्वय विनाश नहीं मानता। अन्यथा अर्थक्रिया का अभाव हो जायगा और अर्थक्रिया का अभाव हो जाने पर वस्तु-सत् की सिद्धि ही नहीं होगी।[3] क्षणभंगुरता की यह चरम स्थिति स्थविरवाद में नहीं मिलती। आचार्य अनिरुद्ध ने रूप की आयु ५१ क्षण की बताई है।

सर्वास्तिवाद में तो नाम और रूप, दोनों को पारमार्थिक माना है और यह स्पष्ट किया है कि सभी वस्तुओं का त्रैकालिक अस्तित्व है। जैनधर्म की दृष्टि से यह मत सही है क्योंकि यह मूल तत्त्व को नित्य मानता है। सर्वास्तिवाद का परमाणु समुदायवाद जैनदर्शन के द्रव्य-पर्यायवाद से समानता रखता है।

बौद्धधर्म में जिसे पारमार्थिक भूततथतावाद कहा है, जैनधर्म में वह 'सत्' माना जा सकता है। जैनों का निश्चयक नय की दृष्टि से आत्मा है वह। भूततथता के सांवृतिकस्वरूप पर दृष्टिपात करते हुए वस्तु के व्यावहारिक स्वरूप पर समानता की दृष्टि से ध्यान केन्द्रित हो जाता है। अन्तर यह है कि भूततथता जैसा एक मात्र परम तत्त्व निश्चय-व्यवहार नय रूप आत्मा जैनधर्म में नहीं। जीव (आत्मा) के अतिरिक्त अजीव तत्त्व भी जैनधर्म में वर्णित है।

## प्रमाण के भेद

बौद्धधर्म प्रमाण के दो ही भेद मानता है—प्रत्यक्ष और अनुमान। जैनधर्म में मूल संख्या तो वही रही, नाम में अन्तर पड़ा। यहाँ प्रमाण के दो भेद माने गये—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के लक्षण में समय-समय पर विकास होता रहा। परोक्ष के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को रखा गया।

इन सब के विषय में मैंने "जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास" तथा "बौद्ध संस्कृति का इतिहास" नामक पुस्तकों में लिखा है। अतः उनको यहाँ दुहराना आवश्यक नहीं।

---

१. माध्यमिक कारिका, ४, १, ५. ६; १०. १५।

२. तत्त्वसंग्रह पञ्जिका, पृ. ५५६।

३. क्षणभंगवाद का खण्डन हर जैन दार्शनिक ने किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## नयवाद और अनेकान्तवाद

नयवाद और अनेकान्तवाद के इतिहास आदि को भी हम उपर्युक्त पुस्तकों में स्पष्ट कर चुके हैं। अतः यहाँ उसे भी नहीं प्रस्तुत करते। मात्र इतना कहना चाहते हैं कि जैन-बौद्धधर्म ने इन दोनों सिद्धान्तों को प्रारम्भ से ही अपनाया है। दोनों धर्मों के आगमों और उत्तरकालीन ग्रंथों में इनका उपयोग दार्शनिकों ने भलीभाँति किया है। इतना अवश्य है कि जैन दार्शनिकों ने इसे अपनी मूल भित्ति मान ली जबकि बौद्ध दार्शनिक इसमें पीछे रहे।

बौद्धधर्म में तत्त्व का विचार दो दृष्टियों से किया गया है—परमार्थ और प्रज्ञप्त्यर्थ। परमार्थ तत्त्व को अविपरीत तथा मूल स्वभाव माना गया है और प्रज्ञप्त्यर्थ वस्तु का व्यावहारिक रूप है जिसे साधारण व्यक्ति अपने ज्ञान का विषय बनाते हैं। इनको क्रमशः पारमार्थिक और सांवृतिक भी कहा गया है।[1] जैनदर्शन का द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अथवा निश्चयनय और व्यवहारनय अथवा पारमार्थिक और व्यावहारिक नय लगभग समान हैं। नयों की भेद दृष्टि जैनों की अपनी है। यह बौद्धधर्म में नहीं दिखती।

अनेकान्तवाद भी बौद्धधर्म में मिलता है। विभज्यवाद और चतुष्कोटिक सत्य इसी के नामान्तर हैं। अन्तर यह है कि उत्तरकाल में बौद्धाचार्यों ने विभज्यवाद की मूल भावना छोड़ दी और वे एकान्तवाद की ओर अधिक झुकते गये। जबकि जैन दार्शनिकों ने इसे अपने सिद्धान्त का आधार बनाया। इसलिए जैन साहित्य में इस पर चिन्तन भी बहुत हुआ।[2] बौद्धधर्म का मध्यममार्ग मूलतः आचार विषयक था। उसी का आगे विकास हुआ। जैनधर्म ने अनेकान्तवाद का प्रयोग आचार और विचार, दोनों क्षेत्रों में किया।

## विभज्जवाद और अनेकान्तवाद

सृष्टि का हर सर्जक तत्त्व भिन्न है और वह अपने विविध रूपों को समाहित किये हुए हैं। प्रेक्षक और चिन्तक उन रूपों में से कुछ रूपों को देख-समझ लेता है और कुछ अनबुझी पहेली से अदृश्य और अचिन्तित बने रहते हैं। हर युग में दार्शनिकों ने इस विश्वसत्य को समझा है और उसे अपने दृष्टिकोण से उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। इसी दृष्टिकोण को बुद्ध ने विभज्जवाद कहा और महावीर ने अनेकान्तवाद।

प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। न वह सर्वथा सत् ही है और न वह सर्वथा असत् ही है। न वह सर्वथा नित्य ही है और न वह सर्वथा अनित्य ही है। किन्तु किसी अपेक्षा से वस्तु सत् है तो किसी अपेक्षा से वस्तु असत् है, किसी अपेक्षा से नित्य है तो किसी अपेक्षा से अनित्य है। अतः सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य आदि प्रकार के एकान्तों का निरसन करके वस्तु का कथञ्चित् नित्य, कथञ्चित् अनित्य इत्यादि रूप होना अनेकान्त है और अनेकान्तात्मक

---

१. अभिधम्मत्थ संगहो, १. २ : मिलिन्द प्रश्न और उसके पूर्व संयुक्त निकाय आदि ग्रन्थों में भी इसका वर्णन मिलता है।

२. विस्तार के लिए देखिये, लेखक की पुस्तक—जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ. २२१-२५०; विभज्जवाद और अनेकान्तवाद, तुलसीप्रज्ञा, १९७५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु के कथन करने का नाम स्याद्वाद है। ये दोनों वाद वस्तु के अनन्तधर्मात्मक स्वरूप का प्रतिपादन मुख्य-गौण भाव से करते हैं। ये दोनों शब्द समानार्थक हैं, फिर भी भेद यह है कि अनेकान्तवाद ज्ञानरूप है और स्याद्वाद वचनरूप। दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं।

विभज्जवाद का तात्पर्य है—वस्तु तत्त्व को विभक्त करके प्रस्तुत करना। भगवान् बुद्ध ने विवादग्रस्त प्रश्नों का समाधान इसी के माध्यम से किया था। शुभ माणवक ने बुद्ध से प्रश्न किया—क्या गृहस्थ ही न्यायकुशल धर्म (निर्वाण) का आराधक होता है, प्रव्रजित संन्यासी नहीं? बुद्ध ने कहा—मैं यहाँ विभज्जवादी हूँ, एकंशवादी नहीं। गृही के लिए भी और प्रव्रजित के लिए भी मैं मिथ्या-प्रतिपत्ति (झूठा विश्वास) की प्रशंसा नहीं करता। चाहे गृही हो या प्रव्रजित, मिथ्या प्रतिपत्ति के कारण यह न्याय-कुशल धर्म का आराधक नहीं होगा। गृही के लिए भी और प्रव्रजित के लिए भी मैं सम्यक् प्रतिपत्ति की प्रशंसा करता हूँ।[1]

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि बुद्ध ने एकंशवाद को मिथ्या-प्रतिपत्ति और विभज्जवाद को सम्यक्-प्रतिपत्ति के रूप में स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि बुद्ध विभज्जवाद का प्रयोग पदार्थ के सम्यक् स्वरूप के विवेचन के लिए किया करते थे। उनके अन्य कथनों से पता चलता है कि उन्होंने तत्कालीन प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तों को उत्तर देने के लिए चार प्रकार की विधियाँ प्रयुक्त की थीं—

१. एकंस व्याकरणीय
२. पटिपुच्छा व्याकरणीय
३. ठापनीय, और
४. विभज्जव्याकरणीय

इन चार प्रकारों में मूल प्रकार दो रहे होंगे—एकंस व्याकरणीय, और अनेकंस व्याकरणीय। अनेकंस व्याकरणीय के ही बाद में दो भेद हुए होंगे—विभज्जव्याकरणीय और ठापनीय। पटिपुच्छा व्याकरणीय विभज्जव्याकरणीय का ही भेद रहा होगा।

उक्त चार विधियों के अतिरिक्त बुद्ध ने विवादग्रस्त प्रश्नों को अव्याकृत कह दिया। दीघनिकाय में उन्हीं अव्याकृत प्रश्नों को दो भागों में विभाजित किया गया है—एकंसव्याकरणीय और अनेकंस व्याकरणीय। यथा—एकंसकापि खो, पोट्ठवाद मया धम्मा देसिता पञ्ञत्ता, अनेकंसिकापि हि खो, पोट्ठपाद, मया धम्मा देसिता। अव्याकृत प्रश्नों को बुद्ध ने अनेकंसिक माना और कहा कि वे प्रश्न न सार्थक हैं, न धर्म उपयोगी हैं, न निर्वेद के लिए हैं और न वैराग्य के लिए हैं—न हेते पोट्ठपाद, अत्थसंहिता, न धम्मसंहिता, न आदिब्रह्मचरिका, न निब्बिदाय, न विरागाय, न निरोधाय, न उपसमाय, न अभिञ्ञाय, न संबोधाय, न निब्बानाय संवत्तन्ति।[2]

यहाँ बुद्ध ने जिन विवादग्रस्त प्रश्नों को 'अनेकंसिक' कहा है वे प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर एकान्तिक दृष्टि से दिया ही नहीं जा सकता। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त अनेकान्तवाद के अधिक समीप है।

---

१. मज्झिमनिकाय, सुभसुत्तन्त
२. दीघनिकाय, पोट्ठपाद, भाग १, पृ. १५९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्ध ने एक अन्य प्रकार से भी प्रश्नों का समाधान किया था जिसे 'चतुष्कोटि' कहा गया है—

१. अत्थि
२. नत्थि
३. अत्थि च, नत्थि च, और
४. नेव अत्थि, न च नत्थि

इस चतुष्कोटि का उपयोग बुद्ध ने अनेक स्थानों पर किया है। उदाहरणतः—

१. छन्नं फस्सायतनं असेसविरागनिरोधा अत्थि अञ्ञं किञ्चि ति।
२. छन्नं····नत्थि अञ्ञं किञ्चि ति।
३. छन्नं ···अत्थि च नत्थि च अञ्ञं किञ्चि ति।
४. छन्नं····नेव अत्थि न न अत्थि च अञ्ञं किञ्चि ति।

बुद्ध ने तत्त्व का वर्णन कहीं-कही दो सत्यों के माध्यम से भी किया है—संमुतिसच्च और परमत्थसच्च। आत्मा के सिद्धान्त को बुद्ध ने अव्याकृता से लेकर संमुतिसच्च तक पहुँचाया। 'न च सो न च अञ्ञो' जैसे कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के विभज्जवाद ने पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि से पदार्थ के विश्लेषण को प्रारम्भ कर दिया था—

यथा हि अंगसंभारा होती सद्दो रथो इति।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति संतो ति संमुति॥[1]

इस विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बुद्ध मूलतः विभज्जवादी थे और उस विभज्जवाद के उन्होने क्रमशः निम्नलिखित विभाग किये। दूसरे शब्दों में इसे हम विभज्जवाद की विकासात्मक अवस्थायें कह सकते हैं—

१. अव्याकृततावाद
२. एकंसिक-अनेकंसिकवाद
३. व्याकरणीय प्रकार
४. चतुष्कोटिविधा, और
५. सच्च प्रकार

जैसा हम शुभ माणवक के प्रसंग में देख चुके है, महात्मा बुद्ध ने परमत्थसच्च को अधिक महत्व दिया। परमत्थदीपिनी; परमत्थजोतिका जैसे शब्द भी इसी अर्थ को व्यक्त करते हैं। बौद्ध साहित्य में नय, सुनय, दुर्नय शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। ज्ञान के जिन आठ साधनों को भगवान् बुद्ध ने बताया है उसमें एक नय हेतु भी है।[2] एक निर्णय विशेष करने के लिए नय की आवश्यकता होती है।[3] सुत्तनिपात में कहा है कि संमुतिसच्च श्रमण-ब्राह्मणों का सर्वसाधारण सिद्धान्त था

१. मिलिन्दपञ्ह, २७-३०
२. अनुस्सवेन परम्पराय, इतिकिरियाय, पिटकसंपदाय, भवपरूपताय, समणो न गुरु, तक्किहेतु, नयहेतु, आकारपरिवितक्केन····दिट्ठिनिज्झानक्खन्तिया—अंगुत्तरनिकाय (२.१.१९१:९) (रोमन)
३. न येन नेति, सं. नि. २, पृ. ५८; अनयेन नयति दुम्मेधो, जातक ४, पृ. २४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और परमत्थसच्च को विशेष रूप से उन्होंने साध्य माना था।[1] परमत्थसच्च ही तथलक्खण है।[2]

बाद में बुद्ध ने विभज्जवाद के स्थान पर मध्यममार्ग को अपनाया—सब्बं अत्थीति खो ब्राह्मण अयं एको अन्तो····सब्बं नत्थीति, खो ब्राह्मण, अयं दुतियो अन्तो। एते ते ब्राह्मण उभो अन्ते अनुपगम्य मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति अविज्जापच्चया संखारा ····।[3] उत्तरकाल में यही मध्यम-मार्ग भगवान् बुद्ध का पर्यायवाचक बन गया।

विभज्जवाद के समान ही अनेकान्तवाद का उद्देश्य रहा है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, अनेकान्तवाद में पदार्थ के स्वरूप पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है। इसी संदर्भ में एकान्तिक और अनेकान्तिक तथा एकंस और अनेकंस शब्दों का प्रयोग हुआ है इसके प्राचीन रूप को हम बौद्ध साहित्य में खोज सकते हैं।

पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी सच्चक से बुद्ध ने कहा कि तुम्हारे पूर्व और उत्तर के कथन में परस्पर व्याघात हो रहा है—न खो संधियति पुरिमेन वा पच्छिमं, पच्छिमेन वा पुरिमं।[4] बुद्ध के शिष्य चित्तगहपति और निगण्ठनातपुत्त के बीच हुए विवाद में भी चित्तगहपति ने निगण्ठ-नातपुत्त पर यही दोषारोपण किया—सचे पुरिमं सच्चं परिच्छमेन ते मिच्छा, सचे पच्छिमं सच्चं पुरिमेन ते मिच्छा।[5]

इससे यह पता चलता है कि भगवान् महावीर ने भी भगवान् बुद्ध के समान मूलतः दो भंगों से विचार किया था—अत्थि और नत्थि। इन्हीं भंगों में स्वात्मविरोध का दोषारोपण लगाया गया। महात्मा बुद्ध के भंगों में भी परस्पर विरोध झलक रहा है पर बुद्ध द्वारा महावीर पर लगाये गये आरोप में जो तीव्रता दिखाई देती है वह वहाँ नहीं। इसका कारण यह हो सकता है कि महावीर के विचारों में अनेकान्तिक निश्चिति थी और बुद्ध एकान्तिक निश्चिति के साथ अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते थे। 'निश्चय' के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग यहाँ अवश्य नहीं मिलता पर उसका प्रयोग उस समय महावीर अवश्य किया करते रहे होंगे। जैसा उत्तरकाल में प्रायः देखा जाता है, प्रतिपक्षी दार्शनिक स्यात् में निहित तथ्य की उपेक्षा करते रहे हैं। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य बुद्धघोष ने स्वयं अनेकान्तवाद को शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का संमिश्रित रूप कहा है।[6]

जो भी हो, इतना निश्चित था, बुद्ध के समान महावीर ने भी अत्थि-नत्थि रूप में दो भगों को ही मूलतः स्वीकार किया था। भगवतीसूत्र में भी इन्हीं दो भंगों पर विचार किया गया है। गौतम गणधर ने उन्हीं का अवलम्बन लेकर तीर्थिकों के प्रश्नों का उत्तर दिया था—नो खलु वयं देवाणुप्पिया, अत्थि भावं नत्थित्ति वदामो, नत्थि भावं अत्थित्ति बदामो। अम्हे णं देवाणुप्पिया! सब्बं अत्थिभावं अत्थोति बदामो, सब्बं नत्थिभावं नत्थोति बदामो।[7]

---

१. सुत्तनिपात, ६८.२१९; कथावत्थु, अट्ठकथा ३४

२. अंगुत्तर, अट्ठकथा, १, पृ. ९५ (रो.)

३. संयुत्तनिकाय

४. मज्झिम. १. २३२

५. संयुत्तनिकाय, भाग ४, पृ. २९८-९।

६. मज्झिमनिकाय, अट्ठकथा, भाग २, पृ ८३१; दीघनिकाय अट्ठकथा, भाग ३, पृ. ९०६।

७. भगवतीसूत्र, ७.१०.३०४. चूलराहुलोवाद सुत्त (मज्झिमनिकाय) में 'सिया' शब्द का प्रयोग तेजोधातु के निश्चित भेदों के अर्थ में किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध साहित्य के ही एक अन्य उद्धरण से यह पता चलता है कि भगवान् महावीर तीन भंगों का भी उपयोग किया करते थे। उनके शिष्य दीघनख परिब्बाजक का निम्न कथन भगवान् बुद्ध की आलोचना का विषय बना था—

१. सब्बं मे खमति
२. सब्बं मे न खमति
३. एकच्चं मे खमति एकच्चं मे न खमति

वेदों और त्रिपिटक ग्रन्थों में चतुष्कोटियों का उल्लेख आता है पर प्राचीन बौद्ध साहित्य में भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के साथ उक्त तीन ही भंग दिखाई देते हैं। इसलिए ऐसा लगता है कि भगवान् महावीर ने मूलतः इन्हीं तीन भंगों को स्वीकार किया होगा। अतः अवक्तव्य का स्थान तीसरा न होकर चौथा ही रहना चाहिए।

जैनाचार्यों ने अनेकान्तवाद पर विशेष चिन्तन किया। उनके चिन्तन का यही सम्बल था। इसलिए जब तृतीय अथवा चतुर्थ भंग के साथ एकान्तिक दृष्टि के साथ भी आक्षेप किया गया तो उन्होंने उससे बचने के लिए सप्त भंगों का सृजन किया। इस सप्तभंगी साधना में हर प्रकार का विरोध और एकान्तिक दृष्टि समाधिस्थ हो जाती है। भगवतीसूत्र, सूत्रकृतांग, पंचास्तिकाय आदि प्राचीन ग्रन्थों में यही विकसित रूप दिखाई देता है। उत्तरकालीन बौद्ध साहित्य में भी इसके संकेत मिलते हैं। थेरगाथा में कहा गया है—"एकङ्गदस्सी दुम्मेधो सतदस्सी च पण्डितो"।[1] यहाँ सत-दस्सी के स्थान पर, लगता है, 'सत्तदस्सी' पाठ होना चाहिए था। इसे यदि सही मानें तो सप्तभंगी का रूप स्पष्ट हो जाता है।

जैनदर्शन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय, निश्चय और व्यवहारनय, शुद्ध और अशुद्धनय, पारमार्थिक और व्यावहारिक नय आदि रूप से भी पदार्थ का चिन्तन किया है परन्तु इनका विशेष उल्लेख प्राचीन बौद्ध साहित्य अथवा अन्य जैनेतर साहित्य में नहीं मिलता। संभव है, इसे उत्तरकाल में नियोजित किया गया हो।

इस विवेचन से हम अनेकान्तवाद के विकास को निम्नलिखित सोपानों में विभक्त कर सकते हैं—

१. एकंसवाद-अनेकंसवाद
२. सत्-असत्-उभयवाद
३. चतुर्थ भंग-अवक्तव्य
४. सप्तभंग, और
५. द्विनय अथवा सप्तनय

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध का समान उद्देश्य था—पदार्थ-स्वरूप का सम्यक् विवेचन करना। बुद्ध के समान महावीर ने भी विभज्जवादी भाषा के प्रयोग को अपेक्षित माना। शायद यह समानता इसलिए भी हो कि दोनों महान् व्यक्तित्व मूलतः एक ही परम्परा के अनुयायी थे। इसलिए दोनों ही प्राथमिक स्तर पर विभज्जवादी हैं। उत्तरकाल में बुद्ध का विभज्जवाद जिस पक्ष की ओर

---

१. थेरगाथा, १०६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी झुका, उसमें एकान्तिक दृष्टि ही छिपी रही, पर महावीर ने उसमें 'स्यात्' जैसे निश्चयवाचक पद को जोड़कर उस दोष से अपने को बचा लिया। इसलिए बुद्ध का विभज्जवाद सीमित और एकान्तिक दिखाई देता है जबकि महावीर का विभज्जवाद असीमित और अनेकान्तिक प्रतीत होता है।

बुद्ध का विभज्जवाद अव्याकृत से चलकर मध्यमप्रतिपदा तक पहुँचा, पर महावीर के विभज्जवाद ने सप्तभंगी, नय और निक्षेप की यात्रा की। बुद्ध के विभज्जवाद पर उतना अधिक चिन्तन नहीं हो सका जितना महावीर के विभज्जवाद अथवा अनेकान्तवाद पर हुआ। फलतः बुद्ध का विभज्जवाद अनेकान्तवादी होने पर भी एकान्तवाद की ओर अधिक झुका पर महावीर का विभज्जवाद अनेकान्तवाद को ही प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पकड़े रहा। यही कारण है कि "स्याद्वाद पदलाञ्छनः" जैसे शब्दों का प्रयोग महावीर के साथ ही हुआ है।

बुद्ध ने आचार और विचार में मध्यममार्ग (मज्झिमपटिपदा) को अपनाया और महावीर ने अनेकान्त शैली का आश्रय लिया। दोनों शैलियों ने अपने-अपने ढंग से उत्तरकाल में विकास किया। दार्शनिक क्षेत्र में दोनों महापुरुषों का यही प्रदेय था। ज्ञान के संदर्भ में उनका यही योगदान था।

●

अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय
न्यू एक्सटेंशन एरिया
सदर, नागपुर-४४०००१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org